बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 18-10-17

खेतों में फसल के साथ सौर ऊर्जा भी पैदा करना जरूरी

सुरिंदर सूद

फसलों की खेती के साथ ही सौर ऊर्जा के विस्तार के लिए भी जमीन की उपलब्धता एक प्रमुख अवयव है। अगर इन दोनों क्षेत्रों को एक साथ समाहित करते हुए सौर-सह-कृषि खेत में तब्दील किया जा सके तो इस कमी को दूर किया जा सकता है। दोनों के सामंजस्य से जमीन के उसी टुकड़े से होने वाली आय में खासी बढ़ोतरी हो जाएगी। जापान, चीन, जर्मनी और ब्रिटेन जैसे देशों में इस अवधारणा को सफलतापूर्वक आजमाया जा चुका है। जमीन के उपभोग स्तर को बढ़ाने के अलावा खेतों में लगी फोटो वोल्टिक प्लेटों (सौर प्लेट) के जरिये पैदा होने वाली बिजली न केवल खेती संबंधी कार्यों के लिए इस्तेमाल की जा सकेगी बल्कि अतिरिक्त बिजली को बेचा भी जा सकेगा।कृषि-सह-सौर खेती से होने वाले लाभ उस समय और भी अधिक बढ़ जाएंगे जब उसमें वर्षा-जल संचयन को भी जोड़ दिया जाए। इस तरह एक ही जमीन खेती के अलावा सौर ऊर्जा उत्पादन और वर्षा जल संचयन में भी इस्तेमाल की जा सकेगी।

खेतों में लगी सौर प्लेटों पर गिरने वाले बारिश के पानी को सिंचाई के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। अगर सौर खेती को प्रोत्साहन दिया जाए तो 100 गीगावॉट सौर ऊर्जा के उत्पादन और वर्ष 2022 तक कृषि आय को दोगुना करने के महत्त्वाकांक्षी लक्ष्यों को भी हासिल करने में मदद मिलेगी।विदेशों में सौर खेती के विभिन्न डिजाइन एवं मॉडल तैयार किए गए हैं और उन्हें स्थानीय जरूरतों के हिसाब से संशोधित किया जा सकता है। खासकर सूर्य की रोशनी की उपलब्धता को देखते हुए मॉडल परिवद्र्धित किए जा सकते हैं। जापान में इसे सौर साझेदारी का नाम दिया जाता है। वहां पर खेतों में फोटो-वोल्टिक पैनल इतनी ऊंचाई पर लगाए जाते हैं कि उनसे छनकर पर्याप्त रोशनी नीचे जमीन तक पहुंच जाती है जो कम रोशनी में उगने वाले पौधों के लिए काफी होती है। वहीं जर्मनी में इन सौर प्लेटों को इस तरह डिजाइन किया गया है कि हमेशा सूर्य की दिशा में रखने के लिए उन्हें घुमाया जा सकता है।भारत में सौर खेती का सर्वाधिक अनुकूल और वैज्ञानिक रूप से आजमाया हुआ मॉडल जोधपुर स्थित केंद्रीय बंजर क्षेत्र अनुसंधान संस्थान (काजरी) का है। इस संस्थान के निदेशक ओ पी यादव के मुताबिक सौर खेती का यह मॉडल पश्चिम राजस्थान, पश्चिमोत्तर गुजरात और पंजाब एवं हरियाणा में फैली विशाल बंजर भूमि के लिए काफी अनुकूल है। पश्चिमोत्तर भारत के करीब 3.2 करोड़ हेक्टेयर इलाके में बंजर भूमि पाई जाती है। खास बात यह है कि अधिकांश मौसम में इस बंजर इलाके में प्राकृतिक रोशनी भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

काजरी ने जोधपुर में 105 किलोवॉट क्षमता का एक सौर-कृषि खेत तैयार किया है। करीब एक एकड़ जमीन पर बनाए गए सौर फार्म का बड़ा हिस्सा खेती के लिए पूरी तरह खाली है। सौर पैनल लगने के बाद भी 49 फीसदी जमीन फसलों के लिए उपयुक्त है। इसके अलावा सौर प्लेटों के नीचे की 24 फीसदी जमीन भी फसल उगाने लायक है। कम लंबाई वाली और पानी की कम जरूरत वाली फसलें इस खेत में बोई जा सकती हैं। काजरी ने इस खरीफ सत्र में यहां मूंग, मोठ, ग्वारफली, एलोवेरा, सोनामुखी और शंखपुष्पी की फसलें लगाई थी। सौर पैनल पर इकट्ठा वर्षा जल को पाइप के सहारे खेत में बने भूमिगत टैंक में जमा कर लिया जाता है। सौर प्लेटों से पैदा होने वाली बिजली को निर्धारित दरों पर पावरग्रिड में भेज दिया जाता है।काजरी का सुझाव है कि मिर्च, प्याज, लहसन और बंदगोभी जैसी सब्जियों को सौर पैनल के नीचे की जमीन पर बोया जा सकता है। इससे सौर पैनलों के आसपास का तापमान कम रखने में भी मदद मिलती है जिससे बिजली उत्पादन भी अधिक होता है। दूसरी तरफ सौर पैनलों की कतारों के बीच की जगह में फसलें उगाने से मृदा अपरदन रोकने में मदद मिलती है जिससे पैनल पर धूल नहीं पसरती और पैनल की क्षमता बढ़ती है। जोधपुर जैसे इलाके में दिन भर में चार से पांच घंटे तक तेज धूप होती है। इस वजह से 105 किलोवॉट क्षमता वाली यह सौर इकाई खिली धूप में 420 किलोवॉट बिजली भी पैदा कर लेती है।

इन फायदों के बावजूद हमें इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए कि इस तरह के एकीकृत खेतों को तैयार करने में अच्छी-खासी लागत लगती है। अगर काजरी के मॉडल को ही देखें तो उसे जोधपुर में यह कृषि-सह-सौर खेत तैयार करने में 52.33 लाख रुपये खर्च करने पड़े। इसके अलावा वर्षा-जल संचय की व्यवस्था करने में अलग से सात लाख रुपये लगाने पड़े। इतने बड़े पैमाने पर निवेश कर पाना देश के अधिकतर किसानों के लिए नामुमकिन है।इस स्थिति में सौर ऊर्जा के उत्पादन में लगे उद्यमियों को किसानों के साथ मिलकर काम करने की सलाह दी जाती है। अगर किसान और सौर ऊर्जा कारोबारी आपसी सहमति से खेतों में सौर ऊर्जा पैनल लगाने के लिए तैयार हो जाते हैं तो उससे दोनों पक्षों को ही फायदा होगा। अगर दोनों पक्षों के बीच भागीदारी नहीं बन पाती है तो कृषि-सह-सौर खेती को व्यावहारिक एवं लाभप्रद बना पाना संभव नहीं हो पाएगा।

दैनिक भास्कर

Date: 18-10-17

लोकतंत्र को सचेत करता निरंकुशता के प्रति झुकाव

संपादकीय

सरकार, नेतृत्वऔर शासन पद्धति के बारे में प्यू रिसर्च सेंटर के सर्वेक्षण के आधार पर अगर भारत के 85 प्रतिशत लोग अपनी राष्ट्रीय सरकार पर विश्वास करते हैं तो इसे सकारात्मक संकेत मानकर संकीर्ण अर्थ लगाने की बजाय उदार व्याख्या करनी चाहिए। जिस समय डॉ. राम मनोहर लोहिया नेहरू सरकार के खिलाफ गैर-कांग्रेसवाद का जबरदस्त अभियान चला रहे थे उस समय भी उन्होंने कहा था कि भारतीय मानस में अपने राज्य (सरकार) के प्रति गहरा अनुराग है और वे इसे खोना नहीं चाहते, क्योंकि उन्हें लंबी गुलामी के बाद अपनी सरकार मिली है। इसलिए सर्वेक्षण का जो यह अर्थ निकाल रहे हैं कि लोग मौजूदा एनडीए सरकार के दीवाने हैं, वे परिणामों की संकीर्ण व्याख्या कर रहे हैं। चिंताजनक पहलू यह है कि भारत के 53 प्रतिशत लोग सैनिक शासन और 55 प्रतिशत लोग निरंकुशता पसंद करते हैं। ऐसी पसंद वालों में युवाओं की संख्या ज्यादा है।

भारत में एक और प्रवृत्ति बढ़ती हुई बताई जा रही है कि लोग जन प्रतिनिधियों की बजाय तकनीकी विशेषज्ञों के शासन को पसंद कर रहे हैं। ऐसा सोचने वाले वियतनाम में 67 प्रतिशत तो भारत में 65 प्रतिशत हैं। सवाल उठता है कि ये लोकतंत्र विरोधी स्थितियां पैदा कैसे हुईं? क्या यह बाजार में व्याप्त अनिश्चितता और वैश्विक पटल के लोकतंत्र विरोधी हालात के कारण बनी हैं या फिर भारतीय समाज में जाति-धर्म के असमानता और टकरावपूर्ण ढांचे के नाते? इन कारणों के गहन विश्लेषण की जरूरत है। लोकतंत्र धीमी गति से काम करने वाली प्रणाली है और वहां लोगों के जीवन स्तर में सुधार भी तीव्रता से नहीं होता और ही अन्याय पर त्वरित कार्रवाई होती है। इसके बावजूद अगर लोगों का सरकारों पर भरोसा कायम है तो यह उम्मीद बंधती है कि लोग अपनी समस्याओं के समाधान के लिए बाजार और समाज के बजाय सरकारों के मुखापेक्षी हैं। सर्वे का यह परिणाम ध्यान देने लायक है कि दुनिया भर में 26 प्रतिशत लोग चाहते हैं कि ऐसा मजबूत नेतृत्व उभरे जिसके काम में अदालत और संसद का हस्तक्षेप हो। यह संकेत चौंकाते हैं लेकिन, जब सर्वेक्षण यह बताता है कि 71 प्रतिशत लोग ऐसी सरकार को खराब मानते हैं तो आश्वासन मिलता है कि लोकतंत्र का संतुलन अभी बिगड़ा नहीं है। ऐसे सर्वेक्षण बार-बार यह चेतावनी देते हैं कि लोकतंत्र में आस्था रखने वालों से कहां कमी रह गई है और उसे पूरा करने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए।

दैनिक जागरण

Date: 18-10-17

जातिवाद की कीमत चुकाता विकास

लेखक डॉ. उदित राज लोकसभा सदस्य हैं

दलित उत्पीड़न हो या महिलाओं के साथ भेदभाव, इसका सीधा संबंध विकास से नहीं है। पिछड़े इलाकों में भी भेदभाव कम और विकसित क्षेत्रों में ज्यादा भी हो सकता है। अगर हम हाल में घटी कुछ घटनाओं का विश्लेषण करें तो यह बात प्रमाणिकता से कही जा सकती है। बीते दिनों ही गुजरात में दो घटनाएं हुईं। पहली, गांधीनगर के कालोल तालुका के लिंबोदरा गांव के रहने वाले 24 वर्षीय पीयूष परमार को कथित तौर पर इंग्लिश स्टाइल में मूंछ रखने पर पीटा गया है। दूसरी, गुजरात के ही आणंद जिले के बदरनिया में एक 21 वर्षीय दलित जयेश सोलंकी का कथित तौर पर गरबा डांस देखने जाना पटेल समाज के लोगों को रास नहीं आया और उसे मार-मारकर मौत के घाट उतार दिया गया।

यह बात सर्वविदित है कि देश में गुजरात विकसित राज्यों में से एक है। ऐसे में कहा जा सकता है है कि जो लोग आर्थिक रूप से संपन्न और शिक्षित हैं, वे भी अवसर मिलने पर भेदभाव करने से चूकते नहीं है। एक प्रश्न जो सबसे ज्यादा चिंतित करता है, वह यह है कि क्या जिनके साथ भेदभाव होता है, वही उसका **प्रतिरोध** करें? क्या ऐसी घटनाएं सिर्फ देश के कमजोर वर्ग को ही प्रभावित करती हैं? क्या इसका संबंध देश के विकास से कुछ भी नहीं है? क्या सरकार द्वारा चलाए गए तमाम अभियान जैसे-**स्वच्छ** भारत आदि पर इसका प्रतिकूल असर नहीं पड़ता?यह दावे से कहा जा सकता है कि जो मानसिकता इन्हें पिछड़े और दबे के **रूप** में देखना चाहती है, वही देश को भी आगे नहीं जाने देना चाहती है। जाहिर है कि यह राष्ट्रीय विषय है न कि केवल सामाजिक न्याय या दबे-कुचले जनप्रतिनिधियों का ही। देश में महिलाओं की आबादी लगभग आधी है और जब तक भेदभाव रहेगा तब तक उनकी भागीदारी शिक्षा, स्वास्थ्य एवं आर्थिक क्षेत्र में कम ही रहेगी। इसका सीधा असर सभी आर्थिक क्षेत्रों में पड़ेगा, चाहे वह कृषि हो या उत्पादन या सेवा इत्यादि। अर्थशास्त्र का नियम भी कहता है कि यदि समाज के किसी **वर्ग** की क्रयशक्ति कम होती है तो वस्तुओं की खरीदारी भी कम होती है और उस देश का उत्पादन क्षेत्र ही नहीं, बल्कि अन्य क्षेत्र जैसे सेवा **इत्यादि** भी समान रूप से प्रभावित होते हैं।

देश की आजादी के 70 साल हो गए, फिर भी हमारी सरकारें अब तक यह बात नहीं सोच पाई हैं कि जितना शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क, परिवहन, जहाजरानी इत्यादि में सुधार और बदलाव की जरूरत है, उतना ही जातिवादी समाज में भी। **वास्तव** में देश की तरक्की जल, थल, वायु, नदी और समुद्र से ही नहीं होती, **बल्कि** नागरिक करते हैं। जापान और कोरिया आदि देश ऐसे हैं, जहां पर उपजाऊ जमीन नाम-मात्र की है। समतल जमीन भी नहीं है और लगभग 80 प्रतिशत भूमि कंकरीली, पथरीली और पहाड़ी है। 40 साल पहले दक्षिण कोरिया भी विकास के मामले में हमारे ही साथ था, लेकिन आज वह कई गुना आगे निकल गया है। अगर दक्षिण कोरिया के साथ भारत की तुलना करें तो हम पाते हैं कि साल 2016 में जहां उसकी प्रति व्यक्ति आय 27,539 डॉलर थी जबकि उसकी तुलना में हमारी सिर्फ 1704 डॉलर।

मेरा मानना है कि देश में जातिवादी मानसिकता के लोग अगर यह पढ़ लें तो शायद उनके हृदय में कुछ **परिवर्तन** हो जाए। इन देशों में क्या मूंछ रखने पर एक नागरिक दूसरे **नागरिक** को सजा देता है या गरबा देखना जुल्म है? क्या अब भी हम इसे कानून व्यवस्था से जोड़कर देखते रहेंगे? इन घटनाओं से हमारी पढ़ाई-लिखाई पर भी प्रश्नचिन्ह लग जाता है। हमारे देश में लाखों कॉलेज और स्कूल हैं। हजारों इंजीनियरिंग कॉलेज और सैकड़ों **विश्वविद्यालय** हैं। तमाम टेलीविजन चैनल और अखबार और **उन्हें** चलाने वाले हजारों पत्रकार और बुद्धिजीवी हैं। लाखों शिक्षक, लेखक और चिंतक हैं। शिक्षा का दायरा और बुद्धिजीवियों की संख्या भी हमारे यहां इतनी कम नहीं है। मान लिया जाए कि राजनीति नाकाम हुई है, लेकिन बुद्धिजीवी तो और भी असफल रहे हैं। उधर कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में भी छात्र छेड़खानी और भेदभाव में दूसरों से कम नहीं हैं। ऐसे में स्पष्ट है कि ये शिक्षक भी छात्रों की मानसिकता को दुरुस्त करने में सफल नहीं हो सके हैं? किसी विषय का ज्ञान रखना और छात्र परीक्षा में पास हो जाए इसका यह मतलब नहीं कि वह शिक्षित है। जितने लोग स्कूल और कॉलेज की शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं, अगर वे यह बात समझ सकते कि अपनी गंदगी को खुद साफ करना है तो अब तक देश बहुत हद तक स्वच्छ हो चुका होता और **प्रधानमंत्री** नरेंद्र मोदी को स्वच्छ भारत अभियान चलाने की **आवश्यकता** न होती।कथित रूप से स्टाइलिश मूंछ रखने पर प्रताड़ना के विरोध में अब गुजरात के दलित नौजवान ट्विटर और फेसबुक पर पीयूष परमार एवं संविधान के

समर्थन में हैशटैग इस्तेमाल कर रहे हैं, यह कहते हुए कि जातिवादी मानसिकता के लोग यह बर्दाश्त नहीं कर पा रहे हैं। जाहिर है इससे समाज में कटुता पैदा हो रही है। और जो शक्ति उत्पादन और देश के विकास में लग सकती थी, वह उसके विरोध में खर्च हो रही है। ऐसी घटनाएं जब वृहद रूप लेती हैं तो समाज और बंटता है, अदालतों पर बोझ बढ़ता है और मीडिया में भी उसे जगह देनी पड़ती है। तो अंतत: क्या केवल शोषित वर्ग की ही क्षति होती है? नहीं, इससे भी और बड़ी क्षति होती है, जैसे कि राजनीति का तेजी से ध्रुवीकरण होता है। जहां धुआं है, वहां आग पैदा होगी ही। ऐसे में क्यों न शोषित समाज की जातियां अपनी रक्षा के लिए गोलबंद न हों?जब ये गोलबंदी होगी तो विकास की बात पर वोट और चुनाव इत्यादि भी नहीं होंगे। इसका सीधा सा अर्थ है कि चुनाव के दौरान प्रचार का पूरा विमर्श ही बदल जाएगा और विकास संबंधी मुद्दे गौण होकर पूरा ध्यान जाति आधारित मसलों पर ही केंद्रित हो जाएगा। सवर्ण और दबंग इसकी चिंता क्यों नहीं करते। शासन-प्रशासन, न्यायपालिका और शिक्षा जगत आदि में इनकी भागीदारी ज्यादा है, लिहाजा यह माना जा सकता है कि ये शिक्षित और जागरूक भी ज्यादा हैं। जो ज्यादा शिक्षित और जाग्रत हैं, उनको ज्यादा देशहित में जिम्मेदार भी होना चाहिए। इसलिए दलित, पिछड़े और महिलाओं से ज्यादा कहीं उन्हें आगे आकर जवाब देना चाहिए, लेकिन दुर्भाग्य से अभी तक ऐसा देखा नहीं जा रहा है।

नईदुनिया

Date: 18-10-17

आयुर्वेद को संजीवनी

संपादकीय

आयुर्वेद प्राचीन भारत में विकसित हुई ऐसी चिकित्सा पद्धति है, जिसकी प्रभावशीलता निर्विवाद है। लेकिन इलाज का ये तरीका आधुनिक काल में एक बड़ी विडंबना का शिकार रहा है। अक्सर बातचीत में शारीरिक क्रिया को समझने और उसके अनुरूप जड़ी-बूटियां ढूंढने की प्राचीन भारतीय मेधा की खूब तारीफ की जाती है, लेकिन जब अपने इलाज की बात आती है, तो संपन्न, सक्षम लोग एलोपैथी को अपनाना ही बेहतर समझते हैं।मंगलवार को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने इस स्थिति से जुड़ा एक और अहम सवाल उठाया। पूछा कि जो लोग आज आयुर्वेद पढ़कर निकलते हैं, क्या वे सचमुच 100 प्रतिशत इसमें आस्था रखते हैं? आम अनुभव है कि मरीज जब जल्द ठीक होने पर जोर देते हैं, तब कई मौकों पर आयुर्वेदिक चिकित्सक उन्हें एलोपैथी दवाएं दे देते हैं। दरअसल, ऐसा होने की कुछ ऐतिहासिक वजहें हैं। उनकी तरफ मोदी ने भी इशारा किया। प्राचीन भारतीय ऋ षि परंपरा, आचार्यों, किसानों, देसी विज्ञान, योग, आयुर्वेद आदि का गुलामी के दौर में उपहास किया गया। पश्चिमी शिक्षा प्रणाली के प्रभाव में बड़ी संख्या में भारतीय भी इस कार्य में शामिल हुए। नतीजतन, अपनी विरासत में जन-आस्था कमजोर हुई। देश की आजादी के बाद भी पारंपरिक ज्ञान व कौशल को संरक्षित करने के गंभीर प्रयास नहीं हुए। मोदी ने उचित ही कहा कि कोई देश तब तक आगे नहीं बढ़ सकता, जब तक वो अपने इतिहास और अपनी विरासत पर गर्व करना नहीं सीखता।

हर्ष की बात है कि अब भारतीय जनमानस की सोच की दिशा बदलने के महत्वपूर्ण प्रयत्न हो रहे हैं। दिल्ली में 'अखिल भारतीय आयुर्वेद संस्थान की स्थापना को इसी सिलसिले में देखा जाना चाहिए। प्रधानमंत्री ने 'आयुर्वेद दिवस के मौके पर इस संस्थान को राष्ट्र को समर्पित किया। धन्वंतरि जयंती के दिन ये दिवस मनाने की शुरुआत इसी सरकार के कार्यकाल में हुई। आयुर्वेद के साथ यह समस्या भी है कि इस इलाज की सुविधाएं सुलभ नहीं हैं। ऐसे में कई लोग चाहकर भी इसे नहीं अपना पाते। नया संस्थान दिल्ली के मशहूर अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) की तर्ज पर खोला गया है। आशा की जानी चाहिए कि इसकी श्रृंखला पूरे देश में फैलेगी। भारत जैसे विशाल आबादी वाले देश में इलाज को सर्वसुलभ बनाने के लिए अनिवार्य है कि चिकित्सा के विभिन्न् विकल्प उपलब्ध रहें। आयुर्वेद में इलाज अपेक्षाकृत सस्ता है। इससे आमजन को काफी राहत मिलेगी। इसके साथ ही आयुर्वेद विशेषज्ञों को प्रधानमंत्री के सुझाव के अनुरूप ऐसी दवाएं खोजने में जुट जाना चाहिए, जिनसे मरीजों को तत्काल राहत मिले और उन्हें दवाओं के दुष्प्रभावों से दूर रखा जा सके। दुनिया में हर्बल दवाओं का बहुत बड़ा बाजार बन चुका है। ऐसे में आयुर्वेद के प्रसार के लिए स्थितियां काफी अनुकूल हैं। सरकार भी इसे बढ़ावा देने के लिए अब प्रतिबद्ध है। ऐसे में आयुर्वेद विशेषज्ञ, निजी क्षेत्र और समग्र समाज अगर इस मौके का भरपूर लाभ उठाएं, तो बेशक आयुर्वेद का युग फिर से लौट सकता है।

Live हिन्दुस्तान.com Date: 17-10-17

रोबोट के साथ आगे बढ़ती हमारी दुनिया

कत्सुतोशी डोबाशी, तकनीकी मामलों के पत्रकार

जापान लगातार गिरती जन्म-दर और बुढ़ाती जनसंख्या की समस्या का सामना कर रहा है। अभी इसकी एक चौथाई आबादी 65 वर्ष से अधिक उम्र की है। ऐसे में, सवाल यह है कि लोगों के संतोषजनक रूप से जीवन-यापन करने और जब तक वे चाहते हैं, तब तक **सुरक्षित** ढंग से काम करने में टेक्नोलॉजी आखिर किस हद तक उनकी मदद कर सकती है? इस उलझन का एक जबाव रोबोटिक टेक्नोलॉजी यानी रोबोट से जुड़ी तकनीक के उपयोग में छिपा है। इंटरनेशनल डेटा कॉरपोरेशन का आकलन है कि साल 2019 तक दुनिया भर में रोबोटिक या इससे जुड़ी सेवाओं पर 135.4 अरब अमेरिकी डॉलर तक खर्च होगा। रोबोट का सबसे अधिक इस्तेमाल स्वास्थ्य सेवा और प्रोसेस मैन्युफैक्चरंग उद्योगों में होने का अनुमान लगाया गया है। आज भले ही रोबोट कई कार्य-क्षेत्रों से मानव कर्मियों को बेदखल कर रहा है, पर अब भी ऐसे क्षेत्रों की कमी नहीं, जहां हालात के अनुसार इंसान की तुरंत फैसले लेने की क्षमता का विकल्प ढूंढ़ना आसान नहीं। लिहाजा कई क्षेत्रों में मानव का उन्नत नजरिया और रोबोट का एक साथ मिलकर काम करना लोगों का खासा ध्यान खींच रहा है।

दुनिया का पहला साइबोर्ग (साइबरनेटिक **ऑर्गेनिज्म** का संक्षिप्त नाम) टाइप रोबोट हाइब्रिड एसिस्टिव लिंब (एचएएल) इसका सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण है। जापानी कंपनी साइबरडाइन द्वारा तैयार यह रोबोट सूट पहनने वाले की **शारीरिक** क्षमता को बढ़ाता है। दरअसल, जब हम कुछ करना चाहते हैं, जैसे कि चलना, तो पहले हम सोचते हैं कि 'हमें चलना चाहिए।' इसके लिए तमाम जरूरी संकेत हमारे मस्तिष्क से उन मांसपेशियों तक **पहुंचते** हैं, जिन्हें वह काम करना होता है। ये संकेत **तंत्रिका** तंत्र के माध्यम से पहुंचते हैं। इस प्रक्रिया में बहुत हल्का संकेत हमारी त्वचा पर भी उभरता है। यह रोबोट सूट उसी संकेत को पकड़ता है और अपनी ऊर्जा उस काम को करने में लगा देता है। इस रोबोटिक सूट का इस्तेमाल कई परिस्थितियों में किया गया है। इसका एक प्रकार है, 'सिंगल जॉइंट', जो हाथ व घुटने के जोड़ों के रूप में **प्रयोग** करने के अलावा बिस्तर पर पड़े इंसान के लिए भी मददगार साबित हुआ है। वहीं, इसका 'होल बॉडी' सूट आपदा बचाव व सहायता के कामों में उपयोग किया गया है। 2011 के विनाशकारी भूकंप के बाद जापान के एक बिजली संयंत्र में हुए परमाणु हादसे में रेडिएशन के बीच सहायताकर्मियों ने इसी सूट को पहनकर मरम्मत का काम किया था। टोक्यो के हानेडा हवाईअड्डे पर इसका 'लंबर' **प्रकार** का सूट मजदूरों के लिए इस्तेमाल होता है, खासतौर से भारी-भरकम माल उतारने जैसे कामों में।आज जापान जिन समस्याओं से जूझ रहा है, उनसे बाकी मुल्क भी अगले कुछ दशकों में दो-चार होने वाले हैं। ऐसे में, जनसांख्यिकीय बदलावों से निपटने की जापान की पहल पर गौर करना जरूरी है। भारत जैसे देशों को खास तौर पर ध्यान देना चाहिए, जिसका वास्ता अगले कुछ दशकों में बुजुर्ग आबादी से पड़ने वाला है। इस लिहाज से 'पेपर' रोबोट **उल्लेखनीय** है, जो घर पर बुजुर्गों की देखभाल करने और युवाओं के साथ उनका **तारतम्य** बिठाने में काफी मददगार साबित हो रहा है। इसे जापानी कंपनी सॉफ्टबैंक ने तैयार किया है। यह बुजुर्गों की शारीरिक देखभाल करने के साथ-साथ उनका भावनात्मक ख्याल भी रखता है। इसी तरह, जून, 2016 में सोनी ने घोषणा की थी कि वह फिर से रोबोटिक कारोबार में उतरेगी। 10 वर्ष से ज्यादा हो गए हैं, जब सोनी ने कुत्ते की तरह का रोबोट 'एबो' का उत्पादन बंद कर दिया था। इस बार भी वह एबो जैसा रोबोट विकसित करना चाहती है, जो देखभाल, पोषण जैसी गतिविधियों में शामिल होगा।जाहिर है, 'रोबोट के साथ रहना' अब कोई फसाना नहीं रहा। आज उस प्रौद्योगिकी में तेज तरक्की दिख रही है, जो लोगों को व्यावहारिक मदद दे सके। इतिहास में भले ही तकनीकी बदलाव ने कई नौकरियां खत्म की हैं, मगर कई नई चीजों को आकार देने में उन्होंने हमारी मदद भी की है। इसलिए तकनीक मानव कल्याण में वृद्धि के साथ गुंथी **हुई** है। मानव के लिहाज से कई ऐसे काम हैं, जो रोबोट नहीं कर सकता। लिहाजा इस बदलाव को सकारात्मक रूप से लेने और आगे बढ़ने की जरूरत है।